दलित आत्मकथा: चेतना, चिंतन और सौन्दर्यबोध

राम चन्द्र[1]
भारतीय भाषा केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्विद्यालय,
नई दिल्ली–110067 मो. 9968293185

प्रवीण कुमार [2]
सहायक आचार्य,हिंदी विभाग, इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक , मध्यप्रदेश -484887, मो – 9752916192

सारांश: प्रस्तुत शोध आलेख आत्मकथा के सौंदर्यबोधीय तत्वों पर केन्द्रित है, जिसमें सौंदर्यशास्त्र की निर्मिति और स्वरूप की विवेचना की गई है। इस क्रम में यह सत्य उद्घाटित होता है कि सौंदर्यशास्त्र सौन्दर्यबोध व सौन्दर्य चेतना से उत्स लेता है और सामाजिक–सांस्कृतिक सम्बद्ध परिस्थितियों एवं वातावरण के बीच विकसित तथा विस्तारित होता है। आत्मकथा जिन स्वानुभूति से आकार लेती है और समाज सापेक्ष वह स्व निर्मित कथा समाज सम्बद्धता से निकल कर मानवीय मूल्यों से जुड़ जाती है, वहीं से उसका सौन्दर्यबोध जीवन-सौन्दर्य में तब्दील हो जाता है । इस आलेख में इसी का विस्तार है । यूँ कह सकते हैं कि दलित आत्मकथा का सौंदर्यशास्त्र जीवन-सौन्दर्य की सापेक्षता का सौंदर्यबोध है।

बीज शब्द: दलित, चेतना, चिंतन, मुक्ति, श्रम, आंदोलन, आत्मकथा, सौन्दर्य, सौन्दर्यबोध, सौंदर्यशास्त्र, स्वानुभूति, जीवन सौन्दर्य, मानवीय मूल्य, सामाजिक संरचना, सामाजिक परिवर्तन, रचनाधर्मिता।

मूल आलेख: किसी साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र कैसे निर्मित होता है? उसकी प्रक्रिया और चिंतन का आयाम एवं फलक कैसा हो?यह एक सतत चिंतन का विषय है और समय-सापेक्ष रचनाधर्मिता पर निर्भर करता है अपितु यह सर्वविदित है कि सौन्दर्यशास्त्र सौन्दर्यबोध पर आश्रित है। सौन्दर्यबोध और उस बोध से निर्मित सौन्दर्यशास्त्र के विषय में विचार करने हेतु संपूर्ण पद्धति एवं प्रविधि से गुजरना ही होगा, क्योंकि किसी भी शास्त्र और बोध के उत्स, विकास एवं सम्वर्द्धन में यही भूमि उर्वरा शक्ति की तरह है। गोविन्दचन्द्र पाण्डे के अनुसार सौंदर्यशास्त्र में सौन्दर्य विषयक अनुशीलन की त्रिपर्वा ज्ञान पद्धति है – एक प्रत्यक्ष दर्शन बोध, दूसरा ज्ञान विषय का परीक्षण और तीसरा न्याय से उसकी अन्वीक्षा।(पाण्डे : 28) यूँ कह सकते हैं कि सौन्दर्य के स्रोत जीवन, कला और प्राकृतिक दृश्य को प्रथम अनुभूति से उत्पन्न बोध, ज्ञान और उस ज्ञात विषय के परीक्षण, चिंतन-मनन के पश्चात् न्याय से उसकी अन्वीक्षा करनी होती है तब जाकर सौन्दर्यबोध की समग्रता प्राप्त होती है। इस प्रक्रिया से ही सौन्दर्य की पूर्णता और सार्वभौमिकता की तलाश की जा सकती है। कला के सौन्दर्यबोध की सार्वभौमिकता तो यह है कि वह जीवन सौन्दर्य का बोध कर दें। प्रवीण कुमार ने साहित्य के सौंदर्यशास्त्र के निर्माण के चरणों को कुछ इस प्रकार रेखांकित किया है। (कुमार: 2022: 176) :

1.सौन्दर्यशास्त्र कला-साहित्य की आलोचना का दर्शन है और यह सौन्दर्यबोध पर निर्भर करता है।
2.प्रत्येक युग और देशकाल में कला-साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र भिन्न-भिन्न है।
3.सौन्दर्यबोध सभ्यता-संस्कृति व चिंतन-पद्धति की उपज है और कला-साहित्य के अध्ययन, मूल्यांकन, व्याख्या, विवेचन-विश्लेषण की पद्धति है।
4.यह मानव की वैचारिक दृष्टि है और समय सापेक्ष परिवर्तनशील है।
5.यह मनुष्य की सामाजिक-सांस्कृतिक प्रस्थिति पर निर्भर करता है।
6.यह सामाजिक संरचना के मूल्यों पर निर्भर करता है।
7.कला-साहित्य में यह उसकी संरचनात्मक जमीन पर निर्भर करता है।
8.समकालीन साहित्य का सौन्दर्यबोध अभी रचनात्मकता के साथ अपना स्वरूप ग्रहण कर रहा है।

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में दलित आत्मकथाओं के सौन्दर्यबोध पर आधारित सौन्दर्यशास्त्र की बात करें तो यह कहा जा सकता है कि दलित आत्मकथाओं की जमीन भारतीय समाज की सामाजिक संरचना और उसमें खत्म हो रहे जीवनमूल्यों या उसकी वंचना की है। इन्हीं वंचना से मुक्ति एवं जीवन सौन्दर्य मूल्यों की प्राप्ति हेतु संघर्षों, आंदोलनों और दर्शन-चिंतन की विचारधारा निरंतर फ्लैश होती रहती है।

भारतीय समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना वर्णाश्रम-जाति आधारित है। अतएव इन सरंचनात्मक व्यवस्था के मूल्यों से ही भारतीय समाज की व्यवस्था को सत्तासीन वर्चस्वशाली व्यक्ति या समूह ने मानवीय विकास को संचालित करने का प्रयास किया है। इस संदर्भ में भारतीय समाज में टकराव, संघर्ष और द्वंद्व की स्थिति हमेशा देखने को मिलती है। यह स्थिति द्वैत की है जिसमें एक तरफ वर्चस्वशाली सत्तासीन की संस्कृति की एकांगी दृष्टि है तो दूसरी तरफ मानवीय जीवन मूल्यों की समग्रतावाली दृष्टि है जिसमें वर्णाश्रम-जांतपांत वाली सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था का प्रतिरोध और उसके खात्मा में ही मानवीय जीवन-मुक्ति का संदेश है। वहीं पहली वाली स्थिति में यथास्थिति या कुछ सुधार के साथ वर्णाश्रम जांत वाली व्यवस्था की सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों के संरक्षण है जिसमें सत्-चित्-आनंद एवं सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् की ईश्वरीय अवधारणा है। दलित आत्मकथाओं में भारतीय समाज की इन दोनों ही संरचनात्मक व्यवस्थाओं की तस्वीर उभर कर सामने आयी है। इन्हीं सरंचनात्मक व्यवस्थाओं के परिप्रेक्ष्य में दलित समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक प्रस्थिति का भी आकलन किया गया है। दलित चिंतकों और रचनाकारों ने इस पर प्रश्न चिह्न लगाया है और दलित साहित्य के मूल्यांकन हेतु मानवीय मूल्यों वाली व्यवस्था को मानक बनाया। उन्होंने वर्णाश्रम-जातपांत वाली सामाजिक संरचना को नकारा है। उसके अंत हेतु आंदोलन भी चलाया है।(जूठन,1997:12)

मनुष्य की सामाजिक-सांस्कृतिक प्रस्थिति उसकी चेतना को निर्मित व निर्धारित करती है। दलित आत्मकथाओं में व्यक्त दलित समाज की चेतना भी भारतीय समाज की संरचना से निर्मित व विकसित है। भारतीय समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था ने वर्णाश्रम-जांतपांत में निम्न पायदान पर स्थित मानुष को मानव ही नहीं समझा। उनकी मानवीय चेतना को मानवीय मूल्यों से वंचित-बहिष्कृत कर रौंदने का काम किया। परिणामतः दलित चेतना ने मानवीय मूल्यों, जीवन मूल्यों को प्राप्त करने और बेहतरीन जीवन हेतु आंदोलन के शक्ल में उस व्यवस्था को नकारने और मानवीयावस्था को सृजित करने का अभियान चलाया। दलित समाज ने अम्बेडकरवादी चिंतन प्रक्रिया की 'डी-कास्ट' की पद्धति को अपनाया। बौद्ध धम्म को स्वीकृत किया। सन् 1956 में डॉ. अम्बेडकर द्वारा बौद्ध धम्म में दीक्षा इसी की परिणति है। तत्पश्चात दलित समाज बौद्ध धम्म की ओर प्रेरित हुआ। मुर्दहिया, जूठन, दोहरा अभिशाप, शिकंजे का दर्द में बौद्ध धम्म की ओर दलित समाज का झुकाव यह प्रस्तावित करता है कि यह समाज समानता की आकांक्षा से प्रेरित समतामूलक समाज का निर्माण करना चाहता है क्योंकि बौद्ध धम्म मानवीय सभ्यता-संस्कृति में सिर्फ समानता और मानवीय मूल्यों के अभ्यास की बात करता है। वहां असमानता,

विषमता, हिंसा, द्वेष-वैर, लालच, पाशविक प्रवृत्तियों के अंत की बात है और जीवन-सौन्दर्य को उत्सव के रूप में बनाना धम्म है। बौद्ध धम्म के 'त्रिसरण', 'पंचशील' और 'आष्टांगिक मार्ग' का पालन जीवन-सौन्दर्य के उत्स और उत्सव को स्वरूप प्रदान करता है। डॉ. तुलसीराम के 'मुर्दहिया' में इस जीवन सौन्दर्य की दोनों पद्धतियों का प्रयोजन मिलता है। 'जूठन' में ओमप्रकाश वाल्मीकि ने एक तरफ वर्णाश्रम व्यवस्था की हकीकत को बयां किया है तो दूसरी ओर ईश्वरीय व्यवस्था को नकारा है। यह नकार बौद्धदर्शन का अनीश्वरवाद के सिद्धांत का प्रतिफलन है जिसमें ईश्वरीय व्यवस्था के अस्तित्व और आत्मा-परमात्मा के अस्तित्व को नकारा गया है और वर्णाश्रमधर्म की व्यवस्था को ही समूल नष्ट करने की बात कही गई है। ये नकार यूं नहीं है दलित साहित्य में। दलित साहित्य में क्रांति के खिलाफ हुई प्रतिक्रांति के खिलाफ प्रतिरोध है। इस क्रांति के खिलाफ हुई प्रतिक्रांति को समझने के लिए डॉ. अम्बेडकर की पुस्तक 'प्राचीन भारत में क्रांति तथा प्रतिक्रांति' को पढ़ना आवश्यक है जिसमें डॉ. अम्बेडकर ने बौद्ध धम्म के उदय को क्रांति की संज्ञा दिया और ब्राह्मणों ने प्रतिक्रांति का मार्ग प्रशस्त किया। फलस्वरूप बौद्ध धम्म की अवनति तथा पतन हुआ। (डॉ.अम्बेडकर, 1995:13) यह प्रतिक्रांति ही समाज में वर्णाश्रमधर्म व्यवस्था करती है और उसे ईश्वरीय मान्यता देती है। हिन्दू दर्शन की धार्मिक पुस्तकें इसी की अभिव्यंजना हैं। जिसके खिलाफ प्रतिरोध का स्वर तत्कालीन समय से ही उभर रहा है। जिसमें जीवन-सौन्दर्य की अवधारणा है। वस्तुतः यह प्रतिरोध ही दलित आत्मकथाओं में जीवन सौन्दर्य बनकर उभरा है जिसका एक स्वरूप वर्णाश्रमधर्म और जांत-पांत वाली व्यवस्था तथा मानसिकता के खिलाफ विरोध, आक्रोश और प्रतिरोध है वहीं दूसरा स्वरूप जीवन मूल्यों की प्राप्ति हेतु संघर्ष और आंदोलन है। जीवन-मूल्यों और उसकी सामाजिकता के बिना जीवन-सौन्दर्य का अस्तित्त्व नहीं है। 'दोहरा अभिशाप' में कौसल्या बैसंत्री ने लिखा है कि- ''आर एस एस की शाखा में डॉ. अम्बेडकर के अनुयायी जाना पसंद नहीं करते थे।''(बैसंत्री,2009: 87) निश्चय ही यह एक प्रतिरोध की संस्कृति के सौन्दर्य का ही उदाहरण है। डॉ. अम्बेडकर ने आर एस एस की विचारधारा को दलित समाज के लिए प्रतिकूल माना परंतु विडम्बना यह है कि वर्तमान का बहुजन समाज अपने जीवन-सौन्दर्य के प्रतिकूल विचारों की आवृत में दिन-प्रतिदिन घिरता जा रहा है जोकि एक चक्रव्यूह की तरह है जिसमें उनके जीवन का सौन्दर्य खत्म ही होगा न कि वह सर्वोर्धित-परिवर्धित होगा।

जीवन सौन्दर्य में अंतर्विरोध, द्वंद्व और हीनताबोध आदि या उससे संबंधित सामाजिक तत्त्वों के लिए कोई जगह नहीं होता है। बहुजन समाज भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था की वर्चस्वशाली चक्रव्यूह में इस कदर फंसा हुआ है कि वह बिना किसी अतिरिक्त बाह्य हस्तक्षेप के हीनताबोध, अपमान, द्वंद्व और अंतर्विरोध के शिकार हो रहे हैं। विचारणीय बात यह है कि दलित आत्मकथाकारों ने अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक प्रस्थिति को छुपाया नहीं है बल्कि उजागर किया, जिससे 'हीनताबोध' की मनोग्रंथि खत्म हुई है। 'हीनताबोध' से मुक्ति की प्रक्रिया ने उनके अस्तित्व को जिंदादिली प्रदान किया है। 'अस्तित्ववाद' और 'मनोविज्ञान' के मणिकंचन संयोग से उत्पन्न आत्मबोध ने मानसिक तौर यह बोध कराया है कि हम भी मानव हैं। मानवीय मूल्यो को जीने का पूरा अधिकार मुझे भी है। मेरे अस्तित्व और अस्मिता को नकारा नहीं जा सकता है। यहीं से दलित समाज में वैचारिक दृष्टि का विकास-पल्लवन हुआ। डॉ. अम्बेडकर और ज्योतिबाफुले ने आधुनिक युगबोध के साथ भारतीय समाज को यही संदेश दिया। उन्होंने जीवनमूल्यों की शिक्षा दी, जिसकी जड़ें गौतम बुद्ध के दर्शन-चिंतन में है। दलित वैचारिकी ने आत्मा-परमात्मा, ईश्वरवादी तंत्र को नकारा है। अमानवीयता के शास्त्र को नकारा है। वहीं बुद्धमय भारत की आकांक्षा सामाजिक परिवर्तन और समतापरक भारत के सपनों की अनुगूंज है दलित आत्मकथाओं में।''(टाकभौरे,2011:304)

उपर्युक्त संदर्भों में समकालीन साहित्य के सौन्दर्यबोध को देखें तो यह बात स्पष्ट होती है कि समकालीन साहित्य की जमीन क्या है? उसकी केंद्रीय विषयवस्तु क्या है? उसके चिंतन में कौन सी विचारधारा है? समकालीन साहित्य की केंद्रीय विषयवस्तु मानव की अस्मिता, अस्तित्व और गरिमा के साथ समाज में समता, स्वतंत्रता, बंधुत्व एवं न्याय की भावना का संदेश-संचार करना है। उसका सौन्दर्यबोध मानव जीवन के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षिक और मनोवैज्ञानिक तत्त्वों के इतिहासबोध के साथ सम्बद्ध होकर निर्मित हो रहा है। इसी परिप्रेक्ष्य में दलित साहित्य और उसके सौन्दर्यबोध देखा जाए तो यह कहा जा सकता है कि दलित साहित्य का सौन्दर्यबोध मानव अस्मिता, अस्तित्व के लिए संघर्षशील और प्रतिबद्ध है और 'जीवन ही सौन्दर्य है' यह उसका केंन्द्रीय चिंतन है। जीवन से इतर कुछ भी नहीं है और न होता है। आत्मा-परमात्मा का कोई अस्तित्व नहीं है। सत्-चित्-आनंद की अवधारणा झूठी है। साहित्य मानव चेतना की उपज है और उसका सौन्दर्य मानव-जीवन का सौन्दर्य है। इसीलिए जीवन का सौन्दर्यबोध और उसका मूल्य ही साहित्य-कला का मूल्य और सौन्दर्यबोध होना चाहिए। यहां अन्य साहित्य की तरह किसी प्रकार की काल्पनिक रोमांटिसिज्म और स्त्री गौरवर्ण के सौन्दर्यीकरण की अवधारणा नहीं है। वह मानता है कि शारीरिक सौन्दर्य की अवधारणा ही गलत है। उसका अस्तित्व तभी है जब समाज में असुंदर का 'कंसेप्ट' है। वस्तुतः सुंदर-असुंदर नाम की कोई चीज नहीं होती है। वह व्यक्ति की मानसिक धारणा है। यह धारणा ही समाज में असमानता, विषमता, विद्रूपता आदि की स्थितियां पैदा करती हैं। असमानता, विषमता और विद्रूपता की जड़वादी ब्राह्मणवादी अवधारणा के अंत की प्रतिबद्धता और मानव जीवन का सौन्दर्यात्मक 'कंसेप्ट' ने 'ब्लैक इज ब्यूटी' की स्थापना करके समाज में क्रांति का बीजबपन किया है। वह स्त्री-पुरुष के सम-सहसंबंध के बीच अपना सौन्दर्य विकसित करता है। इन्हीं वैचारिकता के बीच दलित साहित्यकारों का लक्ष्य मानव की स्वतंत्रता, समता, बंधुत्त्व और न्याय के प्रति प्रतिबद्धता है, यही उसका सौन्दर्यबोध है। दलित साहित्य की वैचारिक चेतना का सामाजिक सरोकार, उसकी सामाजिकता से ही उसका सौन्दर्यबोध निर्मित और विकसित हुआ है और हो रहा है। समकालीन चेतना प्रदत्त भारतीय सौन्दर्यशास्त्र को यथास्थितिवादी मानती है। समकालीन साहित्य में सौन्दर्यबोध का अर्थ उस विचार, चिंतना, दर्शन व विचारधारा से है जो सामाजिक परिवर्तन में सहायक हो। जिससे भारतीय समाज में आमूल-चूल बदलाव आ सके। वर्चस्व की भाषा को समता की भाषा में रूपांतरण समकालीन साहित्य की अतिमहत्त्वपूर्ण विशेषता है। अनगढ़पन, खुरदरापन ही दलित, आदिवासी और स्त्री साहित्य का सौन्दर्य है। समकालीन साहित्य अतीत और वर्तमान के बीच अपना इतिहास निर्मित करता है। इसी आलोक में इस शोध-पत्र में दलित आत्मकथाओं के सौन्दर्यशास्त्र पर विचार किया जा रहा है।दलित साहित्य समाज की ऐसी ही आलोचना है जिसमें पारंपरिक सामाजिक-व्यवस्था का विरोध और नयी समतापरक सामाजिक-संरचना की स्थापना की कवायद है। दलित साहित्य में दलित आत्मकथाओं ने भारतीय साहित्य में एक नई आलोचना को जन्म दिया है और वह आलोचना साहित्यिक आलोचना की पुरानी परंपरा को तोड़ती है एवं आत्मकथा की नई जमीं को नये प्रतिमान के आलोक में मूल्यांकन के लिए विबस करती है। दलित आत्मकथा का सौन्दर्यबोध स्पष्टतः दो स्तर पर दिखाई देता है-

एक स्थापित व्यवस्था को पुष्ट करता है तो दूसरा स्थापित व्यवस्था को प्रश्न के घेरे में लाता है और सामाजिक परिवर्तन की बात करता है। दलित आत्मकथाएं स्थापित व्यवस्था के विकल्प में एक दूसरी व्यवस्था की निर्मिति की बात करती हैं। सामाजिक जड़ता को तोड़कर नयी व्यवस्था की रूपरेखा तैयार करती हैं। समतापरक समाज के निर्माण की आधारभूमि तैयार करती है। वर्ण-सत्तावादी जातिपरक सामाजिक व्यवस्था के विरोध में दलित आत्मकथाएं संघर्ष और संगठन का बोध कराती हैं। उसमें किसी प्रकार की आत्मप्रशंसा का भाव नहीं है। वह व्यवस्था के प्रति प्रतिरोध की लहर पैदा करती है साथ ही आत्ममंथन, आत्मलोचन के लिए प्रेरित करती है।

आत्मकथा आत्मअन्वेषण, स्वयं की खोज है तो इसका कारण सत्य के आत्मोद्घाटन की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया अनुभूति की प्रामाणिकता की मांग करती है। यही कारण है कि आत्मकथा में कल्पना के लिए कोई जगह नहीं होती है। अनुभव व यथार्थ की प्रामाणिकता का सवाल/अनुभूति की प्रामाणिकता ही आत्मकथाओं को अन्य साहित्यिक रचनाओं से अलग करती है। अनुभूति की प्रामाणिकता साहित्य में जीवन की सच्चाई को रेखांकित करती है। जीवन की सच्चाई ही साहित्य में यथार्थ की अभिव्यक्ति और यथार्थवाद की संरचना करती है। यहीं से साहित्य का सौन्दर्य अपना स्वरूप निर्मित और निर्धारित करता है। दलित आत्मकथाओं में दलित जीवन का यथार्थ, उसका वातावरण और उसकी संस्कृति अभिव्यक्त होती रही है... और हो रही है। यह यथार्थ भारतीय समाज का वह यथार्थ है जिस पर मुख्यधारा की रचना की पहुंच नहीं के बराबर रही है। यही कारण है कि दलित चिंतन और उसकी वैचारिकता यह सवाल करती है हिन्दी साहित्य में मेरा चेहरा नहीं दिखाई पड़ता है। तो यह सवाल दलित जीवन के संघर्ष और उसके यथार्थ की चेतना की अभिव्यक्ति न होने और चित्रण न करने की सच्चाई को रेखांकित करता है। यथार्थ की अनुभूति और उसकी प्रामाणिक अभिव्यक्ति पाठक समुदाय को अपनी ओर आकर्षित करती है। यह आकर्षण ही उसका सौन्दर्य है-''चारों तरफ गंदगी भरी होती थी। ऐसी दुर्गंध कि मिनट भर में सांस घुट जाए। तंग गलियों में घूमते सूअर, नंग-धड़ंग बच्चे, कुत्ते, रोजमर्रा के झगड़े, बस यह था वह वातावरण जिसमें बचपन बीता। इस माहौल में यदि वर्णव्यवस्था को आदर्श व्यवस्था कहने वालों को दो चार दिन रहना पड़ जाए तो उनकी राय बदल जाएगी। अस्पृश्यता का ऐसा माहौल कि कुत्ते बिल्ली गाय भैंस को छूना बुरा नहीं था लेकिन यदि चूहड़े का स्पर्श हो जाए तो पाप लग जाता था। सामाजिक स्तर पर इनसानी दर्जा नहीं था। वे सिर्फ ज़रूरत की वस्तु थे। काम पूरा होते ही उपयोग खत्म। इस्तेमाल करो दूर फेंको।''(वाल्मीकि,1997:12)

दलित साहित्य में समय, समाज एवं परिवेश के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक जीवन के यथार्थ और दलित जीवन के प्रत्यक्षदर्शी कठोर अनुभवों को प्रामाणिकता से व्यक्त करनेवाली सशक्त विधा आत्मकथा है। भूख दलित आत्मकथाओं की प्रधान संवेदना में से एक है। दलितों के लिए भूख सिर्फ रोटी का नहीं बल्कि अस्तित्व का मामला है। भूख से लड़ने के उनके तौर-तरीके मनुष्यों की आदिम विरासत में चली आती अदम्य और उद्दाम जिजीविषा के अवशेष हैं। भूख का भयावह रूप दलित आत्मकथाओं में चित्रित है। दलित आत्मकथाएं अतीत, वर्तमान और भविष्य का स्वरूप गढ़ती हैं।

शिक्षा सिर्फ ज्ञान का प्रतीक नहीं है... उसकी चेतना भी ज्ञान का प्रतीक है। शिक्षा से ज्ञान बोध की प्राप्ति होती है और यह बोध न केवल समस्याओं के समाधान में सहायक होता है बल्कि मुक्ति की अवधारणा भी प्रस्तुत करता है। समाज और राष्ट्र के निर्माण की चेतना भी प्रशस्त करता है। राष्ट्र के निर्माण की प्रक्रिया में भारतीय शिक्षा-पद्धति की भूमिका क्या रही है।इस पर दलित आत्मकथा प्रश्न चिह्न खड़ा करती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं कि ''मुझे एक दिशा मिल गई थी। यह धारणा भी उन दिनों पुख्ता हो रही थी कि जो शिक्षा स्कूल, कालेजों में दी जा रही है, वह किसी भी रूप में हमें राष्ट्रीय नहीं बनाती है, बल्कि कट्टर, संकीर्ण हिन्दू बनाती है।''(वाल्मीकि,1997:89) क्या भारतीय शिक्षा-पद्धति वस्तुनिष्ठ नहीं, एक सीमित संस्कृति-हिन्दू संस्कृति के निर्माण में अपनी भूमिका अदा करती है?

दलित आत्मकथाएं भारतीय शिक्षा-व्यवस्था को प्रश्नांकित करती हैं और उसका हिसाब मांगती हैं। ''शिक्षा के प्रसार के कारण जो आशा बंधी थी कि वह जाति-संस्कृति को कमजोर करेगा, उसे जातिव्यवस्था ने झूठा साबित कर दिया। देश में कहीं से भी निकलने वाले अखबारों में छपे वैवाहिक विज्ञापनों पर यह महसूस करने के लिए एक सरसरी निगाह डालनी चाहिए कि बिना अपवाद के देश में ही रहने वाले उच्च शिक्षा प्राप्त लोग ही नहीं बल्कि वर्षों से विदेशों में बसे हुए लोग भी अपनी जाति सूचित करते हुए ऐसे विज्ञापन निकलवाते हैं और जाति सूचनाओं के साथ ही उत्तर चाहते हैं। उच्च शिक्षा प्राप्त नव-धनाढ्य भूमंडलीकृत वर्गों में यह प्रवृत्ति हर साल बढ़ती नजर आ रही है।''(तेलतुमडे,2010:31) अर्थात शिक्षा लोगों के अंदर जागृति और चेतना को पैदा करने में सांस्कृतिक आयामों से अलग नहीं हुई। चेतना के अभाव में समाज में शिक्षा के प्रति उदासीनता भी रही। शिक्षण संस्थान भारतीय सांस्कृतिक आधार से संचालित होते रहे है। सांस्कृतिक संकीर्णता ने शिक्षा को चेतनापरक होने ही नहीं दिया।

ज्योतिबा फुले ने ब्राह्मणवादियों की इसी मानसिकता का विरोध कर समाज में शिक्षा की ज्योति जगाने का काम किया और 1848 ई. में लड़कियों के लिए विद्यालय खोल कर शिक्षा की अवधारणा का समाज में प्रचार-प्रसार किया। इस अवधारणा का उत्तरोतर विकास भी देखने को मिलता है लेकिन सवाल उठता है कि 1848ई. से वर्तमान तक की शिक्षा की स्थिति पर नजर डालें तो बहुत संतोषजनक स्थिति नहीं है। यहां पर यह बात और भी विचारणीय है कि आखिर क्या कारण है कि भारतीय समाज में शिक्षा व्यवस्था का विकास बहुत ज्यादा नहीं हुआ है। यदि है तो समाज के एक खास वर्ग के लिए यह शिक्षा बहुत ही उच्च मानक रखता है वहीं दूसरी ओर उसका ग्राफ बहुत ही नीचा है। इसका कारण है शिक्षा व्यवस्था की भाषा। शिक्षा व्यवस्था की भाषा कभी भी भारतीय समाज में आम जन की भाषा नहीं बनी। आम जन की भाषा शिक्षा का माध्यम न बनने के कारण समाज की बहुत बड़ी आबादी उससे दूर होती चली गई। उसमें चेतना का फैलाव बहुत देर से हुआ जिससे वह समाज लगातार वैज्ञानिकता से दूर होता गया और पारंपरिक व्यवस्था उसे विकास की राह में जोड़ने में बहुत ज्यादा सहायक नहीं बनी। दलित आत्मकथाओं ने शिक्षा व्यवस्था को कठघरे में खड़ा तो किया ही उसकी भाषा को भी प्रश्नांकित किया है। शिक्षण की भाषा देशी बनाम अंग्रेजी की बहस भी चर्चा में आ गयी। इसका मतलब यह कहीं भी नहीं है कि दलित आत्मकथा अंग्रेजी या अन्य भाषाओं का विरोध करती है। वह समाज के विकास के लिए देशी भाषा में ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा की वकालत करती है। 'नागफनी' और 'भटकटैया' में रूप नारायण सोनकर ने 'साइंस फिक्शन' की बात की है।(सोनकर,2024:100) दलित आत्मकथाओं में अंधविश्वास, अज्ञानता, कर्मकांड, जड़ता, रूढ़िवादिता आदि की बात तो कही ही गई है, साथ ही साथ इससे मुक्ति की बात भी दर्ज है। विज्ञानवाद, विकासवाद, संसदीय प्रणाली, बौद्ध धम्म-दर्शन, अम्बेडकरवादी विचारधारा आदि वैज्ञानिक चेतना

की पहल है। चेतना ही मुक्ति का आधार है और चेतनविहीनता ही दुख का कारक है। अज्ञानता है। यह अम्बेडकरवादी विचारधारा का ही प्रभाव है कि ''अंधविश्वास और काल्पनिक देवी-देवताओं को पूजना छोड़ दिया है। माता के मंदिर की जगह अब यहां बौद्ध मंदिर बन गया है।''(बैसंत्री,2009,35) दलित स्त्री आत्मकथा में ही नहीं पुरुष आत्मकथा में भी स्त्री की भूमिका स्पष्ट देखने को मिलती है। दलित साहित्य में मां-नानी की भूमिका अहम रही है दलित चेतना को बढ़ाने में। 'जूठन' में मां की चेतना, 'मुर्दहिया' में दादी की चेतना, 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में मां की चेतना व जिजीविषा, 'दोहरा अभिशाप' और 'शिंकजे का दर्द' में नानी और मां की चेतना दलित स्त्री की चेतना को ही रेखांकित करती है। बौद्ध दर्शन ने दलित समाज को सामाजिक चेतना से 'लैस' किया है। 14 अक्टूबर 1956 को डॉ. अम्बेडकर द्वारा लिये गए बौद्ध धम्म की दीक्षा दलित चेतना की विकास प्रक्रिया को गतिशील करती है। उन्हें मानव होने का बोध कराती है। अधिकारों और मानवीय मूल्यों के प्रति सचेत करती है। दलित समाज में प्रतिरोध की चेतना को नया स्वरूप प्रदान करती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में ''बुद्ध के मानवीय स्वतंत्रता के विचार ने मुझे प्रभावित किया था। परिवर्तित समष्टि में कुछ भी अपरिवर्तनीय नहीं है। मानव ही सर्वोपरि है। करूणा और प्रज्ञा व्यक्ति को उच्चता की ओर ले जाती है।''(वाल्मीकि,1997:121) अर्थात मानवीय बोध ने प्रतिरोध की चेतना को तीव्र किया है। उसे आंदोलनधर्मी बनाया है।

शिक्षा से न केवल चेतना जाग्रत होती है बल्कि आत्मसम्मान, गरिमा, अस्तित्व व अस्मिता का भी बोध होता है। हीनता बोध से मुक्ति का आधार देता है। दलित आत्मकथा का सौन्दर्यबोध भारतीय शिक्षा व्यवस्था, उसके तंत्र, उसकी पद्धति, शिक्षण-अधिगम की व्यवहारिकता व सामाजिकता को इसी कारण प्रश्नांकित करता है। ''जीवन से लेकर मरन तक ही सारी गतिविधियां मुर्दहिया समेट लेती थी। सबसे रोचक तथ्य यह है कि मुर्दहिया मानव और पशु में कोई फर्क नहीं करती थी। वह दोनों की मुक्तिदाता थी।''(राम,2010:भूमिका) जीवन की सारी गतिविधियां समेटने वाली मुर्दहिया प्राणी की मुक्तिदाता ही नहीं है बल्कि दलित समाज को उसकी अज्ञानता से भी मुक्त करती है। उन्हें गुलामी की जंजीर से मुक्त करती है। और इस बात को खंडित करती है कि 'मूर्खता मेरी जन्मजात विरासत थी।' 'मूर्खता मेरी जन्मजात विरासत है' यह बात एक परिवार की नहीं पूरे समाज की स्थिति को बतलाती है कि वह समाज किस हालात में है। जबकि यह सर्वविदित है कि बिना ज्ञान के विकास संभव नहीं। अज्ञानता से व्यक्ति ही नहीं परिवार और समाज की क्या स्थिति हो सकती है यह बात सामाजिक क्रांतिकारी महामानव ज्योतिबा फुले के इस दर्शन से ज्ञात होती है-

''विद्या बिना मति गई, मति बिना गति गई
गति बिना नीति गई, नीति बिना वित गई
वित बिना शूद्र चरमराये,
इतना सारा अनर्थ एक अविद्या से हुआ।''
(ज्योतिबा फुले, मेश्राम,कीर्ति1996:253)

ज्योतिबा फुले के इस कथन में शिक्षा का मूल महत्त्व निहित है। अविद्या से अर्थात अज्ञानता यानी अशिक्षा से मानव की क्या गति हो सकती है, इसकी व्याख्या ज्योतिबा फुले की शिक्षा की अवधारणा करती है। शिक्षा मानव जीवन की मूलभूत आवश्यकता है। शिक्षा के बिना जीवन का व्यवस्थित होना संभव नहीं है और न ही व्यवस्थित हुए बिना जीवन जिया जा सकता है। शिक्षा को दो स्तर पर देखा जा सकता है एक व्यावहारिक ज्ञान के स्तर पर और दूसरा शास्त्रीय ज्ञान के स्तर पर। व्यवहारिक ज्ञान अनुभव आधारित होता है जबकि शास्त्रीय ज्ञान किताबी होता है, जिसका व्यवहारिकता से संबद्ध हुए बिना कोई मूल्य नहीं है। दूसरे रूप में इसे इस प्रकार भी देखा समझा जा सकता है। एक पाठ्यक्रम में पढ़ाए जा रहे पुस्तकों के आधार पर और दूसरा शिक्षक एवं शिक्षण पद्धति के आधार पर। भारतीय समाज में पाठ्यक्रम में पढ़ाए जा रहे पुस्तकों में और विषय-वस्तु में अधिकतर ऐसी चीज पढाई गई है जिससे समाज में चेतना का उत्स बनता ही नहीं है। अर्थात एक विशेष प्रकार की मानसिकता तैयार की जाती है जिसका आधार ब्राह्मणवादी शिक्षण पद्धति और ऐसे धार्मिक आधारित पुस्तकें है। वहां संवाद या सहकारिता की भावना का अभाव ही देखा जाता है। बच्चों में सामाजिकता, सर्जनात्मकता और चिंतन के बीज के उत्स एवं उत्प्रेरणा नहीं पैदा हो पाती है। शिक्षाशास्त्री जॉन डेवी के शब्दों में कहें तो ''स्कूल की कक्षा में सामाजिक संगठन के उद्देश्य एवं एकजुटता दोनों का अभाव है। जहां तक जातीयता का प्रश्न है, विडम्बना यह है कि आज का स्कूल समाज के भावी सदस्यों को एक ऐसे माध्यम से तैयार करता है जो सामाजिकता की भावना से शून्य होती है। मानव की अंतर्दृष्टि को विकसित करने के लिए स्कूल को सामुदायिक जीवन के एक वास्तविक स्वरूप के रूप में कार्य करना होगा, न कि पाठ पढ़ाने वाली एक अलग इकाई की तरह। आज स्कूल अपने आपको एक स्वाभाविक सामाजिक इकाई के तौर पर संगठित नहीं कर सकता। इसका मूल कारण यह है कि इसमें साझी सृजनात्मकता और परस्पर सहानुभूति की भावना नहीं है।''(डेवी,2009:12) उदाहरण के तौर पर दलित आत्मकथाओं में व्यक्त शिक्षक के स्वभाव-मनोवृत्तियां और गैर दलित बच्चों का दलित बच्चों के साथ किए गए व्यवहार से समझा जा सकता है। ''खान पान एक हो गया तो चमारों और यादवों में अंतर ही कहां रह जायेगा?''(बेचैन,2009:383)शिक्षक की इस मानसिकता और इस तरह के अंतर्द्वंद्व को समझने की जरूरत है। जब शिक्षक का व्यवहार इस तरह से हो तो शिष्य पर इसका प्रभाव पड़ना कोई आश्चर्य की बात नहीं। यह बात सभी आत्मकथाओं में देखने को मिल जाती है। ओम प्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' में यह दृश्य बेबाक ढंग से आया है। जब शिक्षक उन्हें पढ़ने के बदले स्कूल के प्रागंण में गाली शब्द से संबोधित करते हुए झाड़ से साफ करने को कहता है। स्कूल के हेडमास्टर कालीराम का कथन गौरतलब है -''चूहड़े का है?/ जी /ठीक है ...वह जो सामने शीशम का पेड़ खड़ा है, उस पर चढ़ जा और टहनियां तोड़के झाड़ बणा ले। पत्तों वाली झाड़ बणाना। और पूरे स्कूल कू ऐसा चमका दे जैसा सीसा। तेरा तो यो खानदानी काम है। जा ... फटाफट लग जा काम पे।''(वाल्मीकि,1997:14)मेरी कक्षा में बाकी बच्चे पढ़ रहे थे और मैं झाड़ लगा रहा था पानी पीने तक की इजाजत नहीं थी। इतना ही नहीं ब्राह्मणवादियों को दलितों का पढ़ना लिखना कितना खलता है, यह बात दलित आत्मकथाओं से साबित होती है। ओम प्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा इस बात से साक्षात्कार कराती है-''जिसका दरवाजा खटखटाया यही उत्तर मिला, 'क्या करोगे स्कूल भेजके' या 'कौवा बी कबी हंस बण सके', 'तुम अनपढ़ गंवार लोग क्या जाणे, विद्या ऐसे हासिल ना होती।' 'अरे ! चूहड़े के जाकत कू झाड़ लगाने कू कह दिया तो कोण सा जुल्म हो गया', या फिर 'झाड़ ही तो लगवाई है, द्रोणाचार्य की तरियों गुरू दक्षिणा में अंगूठा तो नहीं मांगा' आदि आदि।''(वाल्मीकि,1997:17) रूपनारायण सोनकर की आत्मकथा 'नागफनी' हमें एक अलग अहसास दिलाती है। अम्बेडकरवादी चेतना की मिशाल कायम करती है। इस संदर्भ को पढाई के लिए छुट्टी लेने और किसी नौकरी के लिए परीक्षा देने जाने के समय में अवकाश लेने के संदर्भ में समझा जा सकता है। रूपनारायण सोनकर

आई.ए.एस. की परीक्षा में बैठने के लिए अनुमति मांगते हैं औ एक माह के अवकाश के लिए प्रार्थना करते हैं जिसकी अनुमति प्रारम्भ में जातिवादी बाबुओं के कारण नहीं मिलती है लेकिन इस संसार में मानवतावादियों और संवैधानिक अधिकारों को जानने वालों की कमी नहीं है। बाबू कुशवाहा और चीफ इंजीनियर की मदद से रूपनारायण सोनकर के पक्ष में फैसला आता है।(सोनकर,नागफनी,113) वहीं भटकटैया में निर्मित 'मानवर' जीव की परिकल्पना और krish-3 के विवाद के माध्यम से भी संवैधानिक मार्ग का प्रोत्साहन मिलता है।''(सोनकर,2024:81) निश्चय ही किसी विवाद के संदर्भ में संवैधानिक मूल्यों और मार्गों का अनुसरण हमें डॉ. अम्बेडकर की चेतना का वाहक बनाता है।

समाज की संरचना की अवधारणा 'वर्टीकल' और 'हॉरिजेंटल' स्वरूप में हुई है। 'वर्टीकल' स्वरूप समाज में वर्चस्व की भावना पैदा करता है वहीं 'हॉरिजेंटल' स्वरूप समाज में समता की भावना, मनुष्यत्व की संवेदना पैदा करता है। 'वर्टीकल' और 'हॉरिजेंटल' स्वरूप में संघर्ष का सौन्दर्य उसके उत्स से ही है। भारतीय समाज की संरचना वर्णाश्रम व जातिपरक है। इसमें जाति श्रेणीनुमा सीढ़ी की तरह है। उसकी संरचना 'वर्टीकल' है, 'हॉरिजेंटल' नहीं। 'वर्टीकल' स्वरूप ही समाज में वर्चस्व की धारणा पैदा करती है। भारतीय समाज में वर्चस्व की धारणा वर्णसत्ता के बीच निहित है। वह उसी से संचालित है और अपनी सभ्यता-संस्कृति को निर्मित करता है। यह सभ्यता-संस्कृति किसी एक जाति की नहीं है बल्कि जातियों के समुच्चय का है। जिस जाति का प्राकृतिक और सामाजिक संस्थाओं पर अधिकार है वह वर्णसत्ता की भूमिका में है। अन्य दूसरी जाति शासित है, शोषित है। वर्णसत्ता के वर्चस्व में ही शोषण, असमानता, विषमता, भेदभाव, गैरबराबरी, पराधीनता, साम्प्रदायिकता आदि की मानसिकता निहित रहती है। इसी से जाति और उपजाति की संरचना भी पैदा हुई है। जातिवर्चस्व और श्रेष्ठता की भावना ने ही उपजाति की संरचना के स्वरूप को बनाया है। एक व्यक्ति स्वयं को अपने को दूसरे से सुपीरियर समझता है और दूसरे को नीच। यह मानव-मानव के विभाजन की अवधारणा है। जबकि विज्ञान साबित करता है कि मनुष्य या अन्य सभी प्राणी समुदाय जैविक रूप से समान है। सबकी जन्म प्रक्रिया एक समान है। उसमें कोई भिन्नता है। जैविक रूप से उसकी अस्मिता व उसका अस्तित्व समान है। किसी में कोई भिन्नता नहीं है। फिर मानव मानव में भिन्नता क्यों ? इसका कारण मानवशास्त्री और समाजशास्त्री दोनों ही दृष्टि से सामाजिक संरचना है। सामाजिक सरंचना जब मनुष्य की अस्मिता को निर्धारित करने लगता है तभी विभाजन की पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है। यहीं से असमानता व अमानवीयता का स्वरूप तैयार हो जाता है। किसी भी स्थिति में यह व्यवस्था मानवीय नहीं है और न ही इस व्यवस्था को किसी भी स्थिति में अच्छा कहा जा सकता है। दलित साहित्य अपनी वैचारिकी में इसी सामाजिक संरचना को तोड़ने की बात करता है। जाति व्यवस्था और पूंजीवादी सामाजिक संरचना का जन्म ही ब्राह्मणवाद की कोख से हुआ है। इसलिए दलित साहित्य का सौन्दर्यबोध, अपनी वैचारिकता व सामाजिकता दोनों में ब्राह्मणवाद को खत्म करने की कवायद करता है। जब वह ब्राह्मणवाद का विरोध करता है और उसके समूल को नष्ट करने की बात करता है तो वह जाति, जातिपरक व्यवस्था व मानसिकता तथा पूंजीवादी मानसिकता व संरचना आदि सभी का विरोध करता है। सभी प्रकार के असमानता और बहिष्कार का विरोध करता है तो वह उपजाति का भी विरोध करता है। जाति उपजाति का सवाल दलित आत्मकथा में केन्द्रीय प्रश्न बन कर आया है। जब ओमप्रकाश वाल्मीकि यह सवाल करते हैं कि ''जाति ही मेरी पहचान क्यों?''(वाल्मीकि,1997:160)जाति के कारण रूपनारायण सोनकर को परीक्षा में बैठने की छुट्टी नहीं दी जा रही थी कि कहीं वह अधिकारी न बन जाये। कोई दलित अधिकारी कैसे बन सकता है। नागफनीकार हमें संदेश देता है कि कैसे संवैधनिक ढंग से आगे बढ़ना है। 21वीं सदी भी ब्राह्मणवादी की गिरफ्त से मुक्त नहीं है बल्कि पूर्व से आधुनिक शक्ल में अधिक खूंखार और खतरनाक है। विभिन्न शिक्षण संस्थानों में बहुजन वर्ग के शिक्षार्थी और अभ्यर्थियों को 'नोट फाउंड सुटेबल' करना इसी मानसिकता की उपज है। अन्यथा उनकी अयोग्यता भारतीय शिक्षण संस्थानों पर प्रश्न चिह्न खड़ा करती है।

जाति व्यवस्था और जातिवादी मानसिकता के खिलाफ संघर्ष का स्वरूप व सामाजिक परिवर्तन एक सतत प्रक्रिया है। 'जाति' ही जहां मान-सम्मान और योग्यता का आधार हो, सामाजिक श्रेष्ठता के लिए महत्त्वपूर्ण कारक हो, वहां यह लड़ाई एक दिन में नहीं लड़ी जा सकती है। लगातार विरोध और संघर्ष की चेतना चाहिए जो मात्रा बाह्य ही नहीं, आंतरिक परिवर्तनगामी भी हो, जो सामाजिक बदलाव को दिशा दे। जातिवादी मानसिकता सांस्कृतिक तौर पर इतनी गहरी है कि उसकी जड़ खोदना आसान नहीं है। इसी संघर्ष को ओमप्रकाश वाल्मीकि रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि ''कोण जात है?' के साथ 'जाति के नाम पर जो खरोंच मिली उन्हें भरने के लिए युग भी कम पड़ेंगे।''(वाल्मीकि,1997:66) अर्थात जाति व्यवस्था का अंत अचानक नहीं हो जाएगा। उसका अंत लगातार संघर्ष के साथ ही होगा। यह संघर्ष युगों-युगों तक जारी रहेगा। दलित सौन्दर्यबोध जातिवादी मानसिकता के खिलाफ संघर्ष की पूरी प्रक्रिया को सामाजिक सांस्कृतिक स्तर पर लड़े जाने वाला एक लंबा संघर्ष कहा है जिसका अंत तो संभव है लेकिन उसकी समय सीमाएं निश्चित नहीं है। यहीं से परिवर्तनकामी साहित्य का सौन्दर्यबोध भी रेखांकित हो जाता है। उसका सौन्दर्यबोध और उसके प्रतिमान लगातार एक लंबी प्रक्रिया में निर्मित होते हैं। यह प्रतिमान व प्रक्रिया प्रेम सौन्दर्य के साथ जाति-व्यवस्था के अंत में है। जातिवादी व्यवस्था व मानसिकता कभी भी प्रेम सौन्दर्य को स्थापित होने नहीं देती है। प्रेम सौन्दर्य की स्थापना का मतलब है जाति की व्यवस्था का खत्म होना। मानव मानव की विभेदकारी सभी तंत्र व प्रवृत्तियों का अंत होना। यही कारण है जातिवादी मानसिकता कभी भी प्रेम सौन्दर्य को स्थापित करने वाली संस्कृति को पनपने नहीं देती है। यदि पनपती है तो उसका अंत कर देती है। प्रेम संबंध न केवल सौन्दर्य का साधन है बल्कि सौन्दर्य की सामाजिकता को स्थापित करने वाला तत्व भी है।

भारतीय सामाजिक जड़ता का कारण धर्मशास्त्र और धार्मिक मानसिकता है। जहां वैज्ञानिकता की पहुंच हो ही नहीं पाती है। धार्मिक मानसिकता आमजनता को उसकी स्थिति से उबरने ही नहीं देती है। ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद के द्वारा दैनंदिन में जारी धार्मिक कार्यक्रम उसकी चेतना के ऊपर पड़ी काली परत को हटने ही नहीं देता है। पुरानी धर्मिक पुस्तक का बाजारीकरण का रूप, दूरदर्शन और अन्य माध्यमों से उसका प्रचार प्रसार जनता को एक नए प्रकार से धार्मिकता का पाठ पढ़ा रहा है। जनता मानसिक रूप से धार्मिक जड़ता का शिकार है जहां उसकी सांस्कृतिक चेतना, उसका पारिवारिक संस्कार आदि उसे मुक्त नहीं होने देता है। वे यह नहीं समझ पाते हैं कि धर्म क्या है? उसका औचित्य क्या है? उसकी सामाजिकता व व्यवहारिकता का स्वरूप कैसा है? दलित आत्मकथाएं इन तमाम कारकों और कारणों पर प्रकाश डालती है जैसे धर्म का औचित्य, उसकी व्यवहारिकता, उसकी धार्मिकता, जनमानस में उसका स्वरूप, हिन्दू धर्म की व्यवहारिकता तथा धम्म की आवश्यकता। आनंद तेलतुमड़े के शब्दों में हिन्दुत्व के उत्थान की

सभी प्रक्रिया धार्मिक कट्टरता, रीति-रिवाजों के प्रचलन, मंदिर, गुरूद्वारा आदि और साधु-संतों के प्रवचन आदि घटनाओं ने जातिवाद को तेज किया है। ''इसे जातिवाद को बढ़ावा देने वाली स्थिति के रूप में ही देखा जाना चाहिए। दिलचस्प है कि शिक्षित वर्ग ऐसे नव धार्मिकतावाद के उत्थान में मुख्य भूमिका निभा रहा है।''(तेलतुमड़े,2010:31)

भारत एक बहुल सांस्कृतिक और बहुभाषिक देश है। कहने को इसे हिन्दू राष्ट्र कहा जाता है जो एक विशेष प्रकार का ब्राह्मणवाद है। यह ब्राह्मणवाद सांस्कृतिक भिन्नता को स्वीकार नहीं करता है यह उसका राजनीतिक स्टैंड है। सांस्कृतिक विविधता में एकता संभव नहीं है जब तक जातिगत भिन्नता है। जातिगत विभिन्नता एकल सांस्कृतिक जीवन को कभी भी परिभाषित नहीं करती है। इसमें 'हिन्दू शब्द एकता का नहीं विखंडता का द्योतक है। यदि एकता का प्रतीक होता तो सबकी संस्कृति समान होती लेकिन ऐसा है नहीं। इसलिए हिन्दू एक खासवर्ग का प्रतीक है जिसकी संस्कृति, और संस्कार हिन्दू धर्मशास्त्रों से संचालित है। दलित आत्मकथाएं इस सांस्कृतिक भिन्नता को रेखांकित करती हैं ताकि सांस्कृतिक एकता का सूत्र स्थापित किया जा सके। ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं कि ''कहने को तो बस्ती के सभी लोग हिन्दू थे, लेकिन किसी हिन्दू देवी-देवता की पूजा नहीं करते थे। जन्माष्टमी पर कृष्ण की नहीं जहारपीर की पूजा होती थी या फिर 'पौन' पूजे जाते थे। वे भी अष्टमी को नहीं, 'नवमी' के ब्रह्ममुहूर्त में।''(वाल्मीकि,1997:53) इसी के साथ वे लिखते हैं कि हिन्दू संस्कृति हिंसात्मक है। इसका कारण इस सूत्र वाक्य में देखा जा सकता है- ''क्यों दलितों के प्रति हिंदू इतना निर्मम और क्रूर है? ''मैं हिन्दू भी तो नहीं हूं।''(वाल्मीकि,1997: 53-54) वे लिखते हैं कि मैं हिन्दू भी तो नहीं हूं तो बात स्पष्ट हो जाती है कि दलित भारतीय समाज का आर्य नहीं है। अनार्य है। यहां के मूलनिवासी है। इसलिए उसकी संस्कृति हिन्दू संस्कृति से भिन्न है। बाजार के परिदृश्य में कई संस्कृति का बयान है वहीं सामाजिक संरचना में व्याप्त दलित-गैर दलित संस्कृति, मजदूर और मालिक की संस्कृति है। मजदूर का अनुपात किस रूप में है। यह आत्मकथा इसका भी बयान करती है।

समग्रतः दलित आत्मकथाएं भारतीय समाज की वह तस्वीर प्रस्तुत करती हैं जिसमें वर्ण-जाति व्यवस्था उसकी संरचना तैयार करती है और वह इंसान को इंसान का दर्जा नहीं देती है। वह इस वर्ण-जाति व्यवस्था के सभी तंत्रों की पहचान करती है और उसके खिलाफ प्रतिरोध की चेतना पैदा करती है। प्रतिरोध की चेतना अपनी पूरी परंपरा और संस्कृति से ऊर्जा ग्रहण करती है। यह पूरी परंपरा और संस्कृति डॉ. अम्बेडकर की विचारधारा है। सामाजिक परिवर्तन की इस वैचारिकता में सौन्दर्यबोध गैर ब्राह्मणवादी और वैदिक संस्कृति के उत्स से लेकर बुद्ध संतों के दर्शन, फुले दाम्पत्य के संघर्ष और सामाजिक परिवर्तन की कवायद तथा डॉ. अम्बेडकर के चिंतन व दर्शन के साथ अन्य परिवर्तनकामी दर्शन की वकालत दलित आत्मकथाओं में अभिव्यक्त हुई है।

दलित आत्मकथाओं में संघर्ष की जिजीविषा है, जहालत और नफरत की जिंदगी को कब्र में दफन करने की शक्ति है। वह समतापरक समाज के निर्माण के लिए चेतना की निर्मिति करती है। उसकी संवेदना पैदा करती है। समता, स्वतंत्रता, बन्धुत्त्व, न्याय और गरिमा के साथ मानव होने की भावना पैदा करती है। उसकी वैचारिकता निर्मित करती है। उसका सौन्दर्यबोध निर्मित करती है। दलित आत्मकथाओं के सौन्दर्यबोध ब्राह्मणवादी व्यवस्था और मानसिकता को बेनकाब करता है। समतापरक समाज की निर्मिति की वैचारिकता एवं विकल्प प्रस्तुत करता है। दलित आत्मकथाएं मानव की जिंदगी को बर्बाद करने वाली हर एक मानसिकता और व्यवस्था को उजागर करने की कोशिश करती हैं। वह सामाजिक विषमताओं, अंतर्द्वंद्वों को उजागर करती है। सामाजिक व्यवस्था की संरचना की मैकेनिज्म को खोलती है ताकि नयी व्यवस्था के निर्माण की प्रक्रिया जिसकी वैचारिकता दलित साहित्य आंदोलन ने तैयार की है, संभव हो सके। यातना, दमन, शोषण, वेदना और पीड़ा की टीस से उत्पन्न चेतना परिवर्तन की कवायद करती है। यह कवायद ब्राह्मणवादी मानसिकता और व्यवस्था को नागवार लग सकती है क्योंकि उनकी ही संस्कृति और सांस्कृतिक तंत्र में यातना, दमन और शोषण का अनवरत सिलसिला चलता रहा है। इस अनवरत सिलसिलाओं को दलित साहित्य में बेनकाब किया गया है। उसकी पोल-पट्टी खोल दी गई है। सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा में दलित आत्मकथाएं दर्द का दस्तावेज़ हैं और उसकी एक-एक पीड़ा ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था से मुक्ति चाहती है। मानव-मुक्ति की संकल्पना में प्रतिरोध की संस्कृति तीव्र, तीक्ष्ण व पुख्ता करती है।

दलित साहित्य में आत्मकथाओं की रचना सामाजिक परिवर्तन का विकल्प प्रस्तुत करती है। यह विकल्प चेतना की देन है। चेतना ज्ञान की परंपरा से जुड़ने की प्रक्रिया में ही संभव है। शिक्षा की कमी ने यदि दर्द का जीवन दिया है तो शिक्षा की प्राप्ति ने दर्द से मुक्ति की राह दी है। शिक्षा की कमी से मानव की क्या गति हो सकती है इस सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा को तो ज्योतिबा फुले ने 19वीं सदी में ही दिया था। दलित आत्मकथाएं उसका दस्तावेजीकरण हैं। वह एक नया इतिहास... नई संस्कृति की संभावना रचती है। दलित आत्मकथाएं अपने कलेवर में समाज के व्यापक प्रश्न को लेकर उभरी हैं। ज्ञान की गहनतम गहराई को शिक्षा के माध्यम से ही प्राप्त किया जा सकता है। शिक्षा क्या है? शिक्षा के लक्ष्य एवं उद्देश्य, शिक्षण-पद्धति और शिक्षक की शिक्षण-अधिगम की व्यवहारिकता आदि की समस्याओं को दलित आत्मकथाओं के माध्यम से समझा, परखा जा सकता है कि भारतीय समाज में शिक्षा-व्यवस्था का स्वरूप कैसा रहा है। शिक्षा प्रतिरोध और चेतना दोनों की जननी है। वह समस्याओं से मुक्ति का माध्यम है। 'शिक्षित बनो' का नारा मुक्ति के उपाय की तलाश ही तो थी। भारतीय समाज में शोषण और दमन का आधार जातिवादी वर्णसत्ता रही है। जाति और वर्णसत्ता का सवाल-जाति और वर्ण की अवधारणा ही शोषण को संस्थानिक स्वरूप प्रदान करती है। जाति आधारित समाज-संरचना को धर्म की मान्यता प्राप्त है। धर्म का औचित्य और उसकी व्यवहारिकता, उसकी धार्मिकता, जनमानस में व्याप्त उसके स्वरूप, हिन्दू धर्म की व्यवहारिकता तथा धम्म की आवश्यकता आदि सवाल दलित साहित्यांदोलन में मूल समस्याओं के तौर पर उभरा है। पूंजीवाद का विरोध-संपत्ति संग्रह का विरोध भी दलित साहित्य में एक मुद्दा के तौर पर दिखाई पड़ता है। सांप्रदायिकता का अंत और आतंकवाद के अंत का प्रश्न भी दलित साहित्य में देखा जा सकता है। पितृसत्ता व पुरुषवादी मानसिकता का विरोध तथा स्त्री प्रश्न दलित साहित्य में अपना स्थान बना चुके हैं। अंधविश्वास, रूढ़िवादिता, जड़ता का प्रश्न तो सामान्य तौर पर पहले से ही उठता रहा है। ईश्वर और ईश्वरवादी धारणाओं का नकार, ब्राह्मणवादी मानसिकता का विरोध व अंत की घोषणा दलित साहित्य का केन्द्रीय सवाल रहा है। लोकजीवन व संस्कृति की जड़ता बनाम चेतनशीलता की बात दलित साहित्य में दिखाई पड़ता है। श्रद्धा-भक्ति की जगह वैज्ञानिकता व तार्किकता की स्थापन्न, हिंसा, घृणा व नफरत की जगह अहिंसा, करूणा व प्रेम की स्थापना तथा मानव-बोध की भावना, समतापरक समाज की निर्मिति, सामाजिक परिवर्तन की वैचारिकता-बुद्ध-फुले और डॉ. अम्बेडकर तथा अन्य परिवर्तनकामी विचारधारा के प्रति प्रतिबद्धता का सवाल, समता, स्वतंत्रता, बंधुत्व और न्याय का भावबोध, प्रतिरोध की चेतना व संस्कृति का विकास, आर्थिक विषमता व असमानता-जल, जंगल और

समस्याएं, व्यक्ति सत्ता बनाम सामूहिकता का बोध का प्रश्न आदि दलित साहित्यांदोलन की वैचारिक प्रतिबद्धता में निहित है। दलित आत्मकथाओं में इन प्रश्नों को सहज ही समझा जा सकता है... महसूसा जा सकता है। इसी अर्थ में दलित आत्मकथाओं का सौन्दर्यबोध 'सभ्यता-समीक्षा' की अवधारणा प्रस्तुत करता है और समय से संवाद की प्रक्रिया की सर्जना करता है।

****

संदर्भ ग्रन्थ सूची: -

1. - डॉ. अम्बेडकर(1995), संपूर्ण वांग्मय, खण्ड-7, नई दिल्ली, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार
2. - वाल्मीकि, ओमप्रकाश,(1997), जूठन, नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन
3. - बैसंत्री, कौसल्या, (2009), दोहरा अभिशाप, दिल्ली, परमेश्वरी प्रकाशन
4. - टाकभौरे, सुशीला, (2011), शिकंजे का दर्द, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन
5. - तेलतुमडे, आनंद, (2010), साम्राज्यवाद का विरोध और जातियों का उन्मूलन, दिल्ली, ग्रंथ शिल्पी
6. - सोनकर, रूपनारायण, (2024), भटकटैया, भोपाल, काव्या प्रकाशन
7. - राम, तुलसी, (2010), मुर्दहिया, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन
8. - फुले, ज्योतिबा (सं.) मेश्राम.एल.जी., कीर्ति, विमल(1996),महात्मा जोतिबा फुले रचनावली, नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन
9. - डेवी, जॉन, (2009), स्कूल और समाज;(अनुवाद सुशील कपूर) दिल्ली, आकार प्रकाशन
10. - बेचैन, श्यौराज सिंह, (2009), मेरा बचपन मेरे कंधों पर, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन
11. - सोनकर, रूपनारायण, (2007), नागफनी, दिल्ली, शिल्पायन
12. - कुमार, प्रवीण (2022), भारतीय काव्यशास्त्र : अतीत और वर्तमान, दिल्ली , एकैडमिक पब्लिकेशन
13. - पाण्डे, गोविन्द चन्द्र, (2003), सौन्दर्य –दर्शन –विमर्श (अनुवादक –जगन्नाथ पाठक),इलाहाबाद , राका प्रकाशन

Impact of product price, offers and product display on consumer purchase decision of FMCG in Kathmandu Valley

Santosh Pokharel
Lecturer, Central Department of Management, TU Kirtipur Nepal. PhD scholar, Andhra University, Visakhapatnam. Department of Commerce and Management Studies (DCMS). santoshpkrl2038@gmail.com

Madan Kumar Luitel
Lecturer, Nepal Commerce Campus, TU. Kathmandu Nepal. madanluitel77@gmail.com

Bhavuk Raj Neupane
Lecturer, Nepal Commerce Campus, TU. Kathmandu Nepal.bhavukraj@gmail.com

Prof. Jaladi Ravi
PhD. Department of Commerce and Management studies, Andhra University, Visakhapatnam, India.
dr.ravijaladi@gmail.com

Abstract- *Generally buying decision of consumers has been affected by psychological and environmental factors. This study investigates elements affecting consumer purchase decision of FMCG in Kathmandu valley. To evaluate link between dependent variable (consumer purchasing decision) and the independent factors (product price, offer, and display), the study used a descriptive cum analytical research methodology. Convenience sampling has been used to select the respondents of the study. Information about the Kathmandu Valley's consumers' perceptions towards FMCG purchasing decisions was extracted from the raw data. Altogether 193 respondents responded through structured questionnaire. The study has employed both descriptive and inferential statistics. Average and frequencies have been used under the descriptive analysis whereas OLS and correlation analysis have been employed for inferential analysis. The value of R2 is 63.26% indicating that predictors (product price, offers and product display) explain only 63.26% of variation of output variable (consumer's buying decision). Product price, offers and product display all have positive and significant coefficient. In a similar vein, there is a positive and significant association between the predictors and output variables. Product display has been found the most critical determinant of consumer buying decision of FMCG compare to product price and offers.*

Keywords: consumer behavior, price, offer, product display.